International Journal of Advanced Research in Engineering Technology & Science
ISSN: 2349-2819
Impact Factor: 7.10
(Peer-Reviewed, Open Access, Fully Refereed International Journal)
Email: editor@ijarets.org Volume-11 Issue-9 September-2024 www.ijarets.org

भारत में घटती जोतों के आकार का भारतीय अर्थव्यवस्था पर पडने वाले प्रभाव

Dr. Lalita Singh

Assistant Professor Dept. of Economics

S.R.Educational Institute Firozabad (U.P)

सारांश, भारत की आजादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि पिछड़ी अवस्था में थी। उसमें श्रम और भूमि की उत्पादिता कम थी। खेती का ढंग परम्परागत था। अधिकांश किसान पुरानी रीतियों से खेती करते थे। रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नाममात्र था। किसान प्रायः जीवन–निर्वाह के लिए ही खेती करते थे। दूसरे शब्दों में, बड़े पैमाने पर कृषि का वाणिज्यीकरण नहीं हुआ था। मुद्रा का महत्व गांव की अर्थव्यवस्था में कितना कम होगा, यह इसी से समझा जा सकता है कि 1951–52 में भी किसानों के उपभोग में लगभग 45 प्रतिशत अंश उनके ही द्वारा उत्पादित वस्तुओं का होता था। ये सब बातें अक्सर ही कृषि के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कही जाती है। इनमें कृषि क्षेत्र में एक सामान्य अल्प–विकास और गुणात्मक परिवर्तन के अभाव का आभास तो मिलता है, लेकिन भारतीय कृषि को परम्परागत और गतिहीन कहना ही पर्याप्त नहीं है। रोग के लक्षण बताकर उसके कारणों की ओर ध्यान न देना अधिक उपयोगी नहीं होगा। हमें स्वतंत्रता के समय कृषि के स्वरूप को समझने के लिए उस समय के भूमि सम्बन्धों, कृषि जोतों के आकार, कृषि तकनीकों, सिंचाई की सुविधाओं, ग्रामों में व्यापक ऋणणस्तता और महाजनी पूंजी की भूमिका इत्यादि पर विचार करना होगा।

मुख्य शब्द, रैयतवाड़ी प्रथा, महालवाड़ी प्रणाली, किसान, खेतिहर मजदूर आदि ।

परिचय, भारत में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध भूमि सुधार कार्यक्रम आजादी के बाद ही अपनाया गया है, उससे पहले देश में एक दूसरे से भिन्न अनेक भूधारण प्रणालियां थीं जिनमे से उल्लेखनीय प्रणालियां थीं– जमीदारी, महालवाड़ी और रैयतवाड़ी। 1947–48 में निजी स्वामित्व में कुल कृषि भूमि का 57 प्रतिशत जमींदारी मालगुजारी प्रणाली के अन्तर्गत आता था। व्यापकता की दृष्टि से रैयतवाड़ी प्रणाली का स्थान दूसरा था और इस व्यवस्था के अन्तर्गत 38 प्रतिशत कृषि थी। महालवाड़ी प्रणाली के अन्तर्गत केवल 5 प्रतिशत भूमि आती थी। जमींदारी प्रथा शोषण पर आधारित थीं क्योंकि जमींदार, काश्तकारों

का तरह–तरह से शोषण करके अधिकतम लगान वसूलने की कोशिश में रहते थे । रैयतवाड़ी प्रथा में भी बहुत से रैयत भूमि को पट्टे पर उठा देते थे।

स्वतन्त्रता के बाद विचौलियों को समाप्त करने के लिए सरकार ने कुछ कदम उठाए। परन्तु वे अपर्याप्त थे। जमींदारों ने केवल अपना रूप बदल लिया और वे दूरवासी भूस्वामी बन गए। आज भी इन लोगों का बहुत बड़े भूमि क्षेत्र पर अधिकार है। ये लोग पट्टे पर खेती करने वाले काश्तकारों और खेतिहर मजदूरों का शोषण करते हैं। हालांकि पट्टेदारों की सही संख्या के बारे में जानकारी नहीं है फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि कृषि भूमि का लगभग 50 प्रतिशत लिखित या मौखिक पट्टेदारी के अधीन है। इनमें से बहुत से काश्तकार ऐसे है जो इच्छाधीन या उप–काश्तकार हैं और भूमि पर उनका केवल तभी तक अधिकार है जब तक भू–स्वामी चाहे। स्पष्ट है कि इन लोगों का खूब शोषण होता है। खेतिहर मजदूरों की स्थिति और भी दयनीय है। इनमे से कई मजदूर तो लगभग बन्धुआ मजदूरों की तरह काम करने को मजबूर है। इस प्रकार जहां तक भूमि सम्बन्धों का प्रश्न है वे आज भी अर्द्ध सामन्ती है और कृषि विकास में बाधक है।

महाजनी पूंजी और ग्रामीण ऋणव्यस्तता –

भारतीय कृषि पर महाजनी पूंजी का नियन्त्रण बहुत मजबूत है और ऋणग्रस्तता छोटे किसानों का सामान्य लक्षण है। स्वतन्त्रता से पहले अन्य संस्थाओं का विकास न होने के कारण किसानों की महाजनों पर अत्यधिक निर्भरता थी। इसलिए उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर महाजन उनका भरपूर शोषण करते थे। स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने महाजनों की गतिविधियों पर नियन्त्रण लगाने के उद्देश्य से कई कदम उठाए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कदम था वैकल्पिक संस्थाओं का विकास (विशेष रुप से सहकारी समितियों तथा बैंकों की कृषि वित्त में बढ़ती हुई भूमिका)। परन्तु बहुत से छोटे किसान, खेतिहर मजदूर तथा अन्य गरीब ग्रामीण लोग आज भी अपनी ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए महाजनों पर निर्भर करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्य संस्थाएं केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देती है जबकि इन लोगों को कई अनुत्पादक कार्यों (जैसे शादी, सामाजिक उत्सव, मुकद् मेवाजी) के लिए भी ऋण भी आवश्यक्ता पड़ती रहती है। इस प्रकार के ऋण अक्सर महाजनों से मिल जाते हैं जो अतयधिक ब्याज लेते हैं, खाते बनाने में बेईमानी और गड़बड़ी करते हैं तथा कई अन्य तरीकों से इन अनपढ़ गरीब लोगों को ठगते हैं। एक बार महाजनों के चंगुल से फंस जाने पर निगल पाना इन लोगों के लिए बहुत मुश्किल होता है। यह ग्रामीण ऋणग्रस्तता सामाजिक व्यवस्था अथवा, दूसरे शब्दों में, उत्पादक सम्बन्धों का परिणाम है। भारत में ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादन सम्बन्ध आज भी अर्द्ध–सामन्ती

है। खेतिहर मजदूरों और छोटे किसानों का भूमि के मालिकों द्वारा शोषण ही उनकी आर्थिक दुर्दशा के लिए जिम्मेदार है और यही प्रधान रूप से उनकी ऋणग्रस्तता का कारण है।

श्रम बाजार की द्वयात्मकता –

भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक दबाब के कारण कृषि क्षेत्र में मजदूरी औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरी की तुलना में बहुत कम है। वैसे भी जहां औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संगठित होते हैं और अपने हितों की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर सकते हैं वहां खेतिहर मजदूर असंगठित होते हैं ओर कुछ नहीं कर पाते। इससे श्रम बाजार में द्वयात्कता पैदा होती है। कृषि से बाहर रोजगार अवसरों के अपर्याप्त विकास के कारण खेतिहर मजदूर कृषि से चिपके रहते हैं और कम मजदूरी पर ही काम करते रहते हैं। कम मजदूरी के कारण उनकी प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा रहता है, जीवन स्तर नीचा रहता है और श्रम उत्पादिता भी कम रहती है।

परम्परागत कृषि क्षेत्र में सस्ते श्रम की उपलब्धि के कारण उसका व्यापक प्रयोग होता है। इसलिए श्रम–प्रधान तकनीकों का अपेक्षाकृत अधिक इस्तेमाल किया जाता है और मशीनों का कम।

खेती के पुराने तकनीक –

अधिकतर भारतीय किसान आज भी खेती के पुराने तकनीकों का प्रयोग कर रहे हैं। परम्परागत खेती मानव व पशु श्रम, वर्षा तथा गोबर की खाद पर निर्भर करती है। इस प्रकार की उत्पादन तकनीकों में किसानों को प्राप्त होने वाला प्रतिफल बहुत सीमित होता है और खेती केवल जीवन–निर्वाह के लिए साधन उपलब्ध करा पाती है। परन्तु 1966 में नई कृषि युक्ति को अपनाने के बाद से देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में (खासतौर पर पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में) उत्पादन की नई तकनीकों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाने लगा है। इन तकनीकों के प्रयोग के कारण पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कृषि उत्पादिता में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। परन्तु क्योंकि बहुत सारे राज्यों व क्षेत्रों में अभी भी परम्परागत पुरानी तकनीकों का प्रयोग किया जा रहा है इसलिए देश में एक तरह की तकनीकी द्वयात्मकता पैदा हो गई है।

फसलों के उत्पादन में अनिश्चितता व अस्थिरता –

जैसा कि सर्वविदित है कि भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर करती है। 1950–51 में कृषि के अधीन कुल क्षेत्र 13 करोड 19 लाख हेक्टर था जबकि कुल सिंचित क्षेत्र केवल 2 करोड 24 लाख हैक्टर था। इस प्रकार फसलों के अधीन क्षेत्र में से केवल 17 प्रतिशत क्षेत्र पर सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध

थी। 1998–99 में कृषि के अधीन कुल क्षेत्र 19 करोड 26 लाख हैक्टर था जिसमें से 7 करोड 56 लाख हैक्टर (अर्थात 39.2 प्रतिशत क्षेत्र) पर सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध थी। इसका अर्थ यह है कि 1998–99 में भी 61.0 प्रतिशत क्षेत्र मानसून पर निर्भर था। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में कृषि उत्पादन का स्तर निर्धारित करने में आज भी प्रकृति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। 1965 के बाद उन्नत किस्म के बीजों का जो कार्यक्रम अपनाया गया है उससे उत्पादन की वर्षों पर निर्भरता (गेहूँ को छोड़कर) और अधिक बढ़ गई है। सी.एस. हनुमन्तराव, एस. के. रे तथा के. सुब्बाराव ने 1959 से 1985 तक की अवधि के लिए जो अध्ययन किया है उससे यह सिद्ध होता है कि खाद्यान्नों के कुल उत्पादन की संवेदनशीलता वषा में होने वाली कमीबेशी के प्रति अधिक बढ़ गई है। वस्तुतः हरित क्रांति की अवधि में (अर्थात् 1965 के बाद से) उत्पादन में अस्थिरता अधिक हो गई है। परन्तु सी.एच. हनुमन्तराव के अनुसार अस्थिरता में वृद्धि का कारण नई तकनीक (हरित क्रांति) नहीं है। इसके लिए वे प्रतिकूल कृषि परिस्थितियां जिम्मेदार हैं जिनमें नई तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। नई तकनीक के कारण, उत्पादन की जल–उपलब्धि पर निर्भरता बढ़ गई है। इसके परिणामस्वरुप, वर्षा में अनिश्चितता होने पर उत्पादन की अस्थिरता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए 2006 में देश के 36 मौसमी उपखंड़ों में से 21 उपखंडों में बहुत कम या नगण्य वर्षा हुई जिससे खाद्यान्न उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसलिए खाद्यान्न उत्पादन जो 2006–07 में 2,120 लाख टन था वह 2007–08 में कम होकर केवल 1,832 लाख टन रह जाने की संभावना है।

कृषि क्षेत्र में विविधता और साधारणीकरण की समस्या –

भारत एक विशाल देश है। भौगोलिक दृष्टि से इस देश के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत थोड़ी समानता है। मिट्टी, वर्षा, तापक्रम, सतही पानी की उपलब्धि की दृष्टि से अन्तर इतने अधिक है कि एक राज्य के कुछ जिलों के लिए उपयुक्त कार्यक्रम अन्य राज्यों की दृष्टि से बिल्कुल अनुपर्युक्त हो सकता है। वर्षा को ही लीजिए। जहां बंगाल, असम, मेघालय आदि राज्यों में वर्षा इतनी अधिक होती है कि कृषि को प्रायः बाद से भारी हानि होती है, वहां राजस्थान, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों मे वर्षा थोड़ी है। कुछ क्षेत्रों की जलरोध और भूमि की सतह पर क्षार एकत्रित हो जाने की समस्याएं है परन्तु अनेक क्षेत्र ऐसे भी जहां ऐसी समस्याएं नहीं है। सम्पूर्ण भारत में मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी है और फास्फेट और पोटाश के तत्व सब कहीं समान नहीं है। प्रायः एक ही गांव में कम, अधिक उपजाऊ भूमि देखने को मिलती है इतना ही नहीं। विभिन्न राज्यों में उत्पादन सम्बन्ध अलग–अलग है। इसी प्रकार जोतों के आकार तथा उनके उप–विभाजन व अपखण्डन की दृष्टि से भी क्षेत्रीय विविधताएं हैं। अन्त में, भारतीय

कृषि के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि उपर्युक्त विविधताओं को देखते हुए कृषि आयोजन व नीति निर्धारण के क्षेत्र में साधारणीकरण करते समय बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। सच तो यह है कि साधारणीकरण से अन्तक्षेत्रीय भिन्नताओं की उपेक्षा होती है। दूसरे शब्दों में, जब ग्राम्य–जीवन की पूरी जटिलता को समझा नहीं जाता तो आयोजन की सफलता संदिग्ध रहती है। अतः कृषि की योजना का सम्पूर्ण योजना के साथ तालमेल होने के साथ–साथ यह जरुरी है कि वह स्थानीय, भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरुप हो।

सामान्य आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास अनिवार्य –

भारत में कृषि के महत्व का एक कारण यह भी है कि राष्ट्रीय अर्थ व्यवसथा की प्रगति के लिए कृषि का विकास एक अनिवार्य शर्त है। २०नर नर्क्स का कहना है कि कृषि पर आधारित अतिरिक्त जनसंख्या को वहां से हटाकर नए आरम्भ किए गए उद्योगों में लगाया जाना चाहिए। नर्क्स का मत यह है कि इससे एक ओर कृषि उत्पादिता में वृद्धि होगी और दसूरी और अतिरिक्त श्रम–शक्ति का उपयोग करके नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की जा सकेगी।

आजकल नर्क्स–सिद्धान्त पर आलोचना के रूप में यह कहा गया है कि औद्योगीकरण का अर्थ कृषि क्षेत्र से श्रमिकों को हटाकर उद्योगों में लगा देना नहीं है। औद्योगीकरण के लिए विशेष प्रकार की अभिप्रेरणाएं और मूल्य आवश्यक है, जिनका भारत जैसी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में विकास नहीं हो सकता। उक्त प्रेरणाओं और मूल्यों के विकास के लिए पहले कृषि में ही परिवर्तन किया जाना अनिवार्य है। दूसरे, विपण्य अतिरेक में काफी वृद्धि करनी पडेगी ताकि बढ़ती हुई शहरी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके तथा उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सके। तीसरे, नए उद्योग चाहे कितनी ही तीव्र गति से क्यों न विकसित हों, भारत की लगातार बद रहीं आबादी और श्रम शक्ति को रोजगार दिलाने में पर्याप्त नहीं होगें। अतः अतिरिक्त रोजगार नए उद्योगों में नहीं अपितु स्वयं कृषि में ही अथवा ग्रामीण उद्योगों में खोजना होगा। परिणामतः कृषि की उन्नति आवश्यक होगी। दूसरे शब्दों में सामान्य आर्थिक प्रगति के लिए या तो कृषि का विकास पहले करना होगा या फिर साथ–साथ। भारतीय आयोजकों को दूसरी ओर तीसरी योजना में यह कटु अनुभव प्राप्त हुआ कि कृषि क्षेत्र से वस्तुओं की अपेक्षित मात्रा में प्राप्ति न हो सकने के कारण कैसे सम्पूर्ण आयोजन–प्रक्रिया ही अस्त–व्यस्त होने लगती है।

निष्कर्ष, यह उल्लेखनीय है कि भारत के आर्थिक विकास में कृषि विकास पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। इसके कई उदाहरण है। सर्वप्रथम, कृषि क्षेत्र में पूंजी–उत्पाद अनुपात अधिक उंचा नहीं है,

परिणामतः थोड़ी सी पूंजी से लगातार भारी कृषि उत्पादन किया जा सकता है। अतः कम से कम आरम्भिक अवस्था में आय में तीव्र वृद्धि करने के उद्देश्य से कृषि में अपेक्षाकृत अधिक विनियोग करना होगा। दूसरे, देश में बचत और विनियोग की गति अधिक हो सकती है। जबकि कृषि में बचत और विनियोग की गति अधिक हो। तीसरे कृषि विकास के लिए विदेशी मुद्रा इतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि औद्योगिक विकास के लिए। अतः भारत को जिसे विदेशी मुद्रा के संकट का सामना करना पड़ रहा है, कृषि विकास पर बल देना चाहिए। इस विवरण से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं (क) पशु धन कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है और (ख) देश के सामान्य आर्थिक विकास के लिए कृषि एवं पशुधन का विकास अनिवार्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Nag, D.S., Problem of Under-developed Economy.
- Nurkse, Rangnar, Problem of capital formation in under developed countries.
- Kunawat, R.K. (1998). Credit and new technology agricultural situation in India, vol. 29(7), p. 489-493.
- Chaudhari, A.K. and Tripathi, B.N. (2002). Problems of small farmers in the contest of New Technology in the dry land area. Indora. Indian Journal and Agricultural Economics, Vol. 30(3), p. 243.